मेरा विद्यालय

रविन्द्रनाथ टैगोर



सभी चित्र: विवेक वर्मा

लगभग चालीस वर्ष की अवस्था में मैंने बंगाल में एक स्कूल स्थापित किया। निश्चय ही मुझ जैसे व्यक्ति से, जिसने जीवन का अधिकांश समय कविताएं लिखने में व्यतीत किया हो, किसी को ऐसी आशा नहीं थी। इसलिए स्वाभाविक रूप से लोगों ने सोचा कि यह स्कूल अति उत्तम तो नहीं होगा, लेकिन अनुभवहीनता एवं साहस की वजह से इसमें परम्परागत से अलग कुछ विशेष नवीनता ज़रूर होगी।

इसी कारण प्रायः मुझसे पूछा जाता है कि मेरा विद्यालय किन विचारों पर आधारित है? मेरे लिए यह प्रश्न अत्यंत संकोच में डालने वाला होता है क्योंकि केवल अपने प्रश्न-कर्त्ताओं को संतुष्ट करने के लिए मैं अपने उत्तर में सामान्य किस्म के विचार प्रस्तुत करने लगूं यह उचित नहीं होगा। दूसरी ओर, मौलिक होने के लोभ का संयमन करते हुए मैं केवल सत्य को प्रस्तुत कर संतुष्ट हो जाऊंगा।

सर्वप्रथम तो मैं स्वीकार करता हूं कि मेरे लिए यह बता पाना वास्तव में कठिन है कि मेरी संस्था किन विचारों पर आधारित है क्योंकि विचार किसी ठोस नींव की तरह तो होते नहीं जिन पर कोई भवन खड़ा कर दिया जाए; वरन् वे तो बहुत कुछ एक बीज की तरह होते हैं जिसे बढ़ते हुए पौधे से अलग करके नहीं पहचाना जा सकता।

मैं जानता हूं कि इस विद्यालय के अस्तित्व में आने का श्रेय किसको है। इसकी स्थापना को प्रेरित करने वाली शिक्षा की कोई नई पद्धति नहीं, वरन् मेरे स्कूल के दिनों की स्मृतियां थीं।

विद्यालय जाने के वे दिन मेरे लिए अप्रसन्नता भरे थे। मुझे नहीं लगता कि इसके लिए मेरा स्वभाव दोषी है या उन स्कूलों के कुछ खास अवगुण जहां मुझे भेजा गया। हो सकता है कि अगर मैं कुछ कम संवेदनशील होता तो इस दबाव के अनुरूप ढल जाता और विश्वविद्यालय उपाधि प्राप्त करने तक वहां बना रह पाता। लेकिन जो भी कहो, विद्यालय तो विद्यालय होते हैं, अपने-अपने मानदण्डों के अनुसार, कुछ बेहतर तो कुछ खराब।

छोटे शिशुओं के लिए भोजन के रूप में मां के दूध की व्यवस्था है। उन्हें उनका भोजन और उनकी मां एक ही समय में मिल जाते हैं। यह उनके लिए सम्पूर्ण पोषण है - शरीर का भी, आत्मा का भी। यह उस महान सत्य से उनका पहला परिचय है कि संसार से मनुष्य का सच्चा संबंध व्यक्तिगत प्रेम की वजह से है, न कि कार्य-कारण आधारित यंत्रवत नियमों की वजह से। इसलिए हमारे बचपन को पूर्ण मात्रा में जीवन की वह खुराक मिलनी चाहिए जिसके लिए उनमें अंतहीन पिपासा होती है। छोटे-छोटे बालकों के मन को इस विचार से पूरी तरह संतृप्त कर दिया जाना चाहिए कि उन्होंने मनुष्यों की ऐसी दुनिया में जन्म लिया है जो उनके चारों ओर की दुनिया से पूरी तरह समरस और सामंजस्यपूर्ण है।

और हमारे सामान्य स्कूल अपनी उच्च बौद्धिकता और तिरस्कारपूर्ण रवैये के साथ, इसी बात की तीव्र उपेक्षा करते हुए, बच्चों को बलपूर्वक ईश्वर द्वारा निर्मित इस सुन्दर और रहस्यों से भरे संसार से दूर कर देते हैं जो व्यक्तित्व की सकारात्मक संभावनाओं से भरा हुआ है। मात्र अनुशासन की यह प्रणाली व्यक्ति की वैयक्तिकता को पूरी तरह नकार देती है। यह ऐसा कारखाना है जो विशेष प्रकार के एक ही जैसे नमूने तैयार करने के लिए बनाया गया है। शिक्षा की कार्य प्रणालियां बनाने के लिए यह एक औसत आधारित काल्पनिक सीधी रेखा खींच कर उसका अनुसरण करता है, लेकिन जीवन की रेखा सीधी सपाट नहीं होती। वो तो उस औसत की रेखा के साथ उतार-चढ़ाव का खेल खेलने की शौकीन होती है, जिसकी वजह से फिर

बच्चों को स्कूल की प्रताड़ना झेलनी पड़ती है। और जब मैं स्कूल भेजा गया, यही मेरे दुख का कारण था। अचानक मैंने पाया कि मेरे चारों ओर की दुनियां लुप्त होती जा रही है और उसके स्थान पर ऊंची दीवारें और लकड़ी की बैंचें मुझे किसी अंधे की सूनी आंखों की तरह लगातार घूर रही हैं।

पौराणिक कथा है कि ज्ञान के फल का स्वाद लेना और स्वर्ग में रहना साथ-साथ नहीं हो सकता। इसलिए ज्ञान प्राप्त करने के लिए मनुष्य के बच्चों को स्वर्ग का संसार त्याग कर, मृत्यु के इस साम्राज्य में आना ही पड़ता है जहां ठोक-पीट कर सही करने वाले विभाग का ही प्रभुत्व है। इसलिए मेरे दिमाग को अत्यंत कसे हुए स्कूली डिब्बे को स्वीकार करना पड़ा, जहां मैंडारिन स्त्री के जूतों की तरह, हर तरफ से मेरी प्रकृति पर, मेरी क्रियाओं पर चिकोटियां और खरोचें पड़ती रहीं। मैं भाग्यशाली था कि संवेदनहीनता की अवस्था आने के पहले ही अपने को वहां से मुक्त कर सका।

हालांकि सुसंस्कृत समाज में प्रवेश पाने के लिए मुझ जैसे परिवेश के लोगों को जितनी सज़ा भुगतनी पड़ती है, मुझे उतनी नहीं भुगतनी पड़ी, फिर भी मुझे खुशी है कि मैं उससे पूरी तरह मुल्तवी नहीं रहा। इससे मुझे यह अहसास हुआ कि इस दौरान मनुष्य के बच्चों पर क्या-क्या गुज़रता है।

उक्त स्थिति उत्पन्न होने का कारण "बच्चों का ज्ञान कैसे बढ़ाया जाए?" इस विषय में मनुष्य के अभिप्राय का ईश्वर के अभिप्राय से विपरीत होना है। हम अपने व्यवसाय को कैसे चलाएं, यह हमारा निजी मामला है और इसके लिए हम अपने कार्यालयों में अपने ढंग के तरीके अपनाने के लिए स्वतंत्र हैं, लेकिन यह कार्यालयीन व्यवस्था ईश्वर की कृति के लिए उपयुक्त नहीं है और बच्चे ईश्वर की अपनी कृति, अपनी सृष्टि हैं।

हम इस संसार को केवल जानने के लिए नहीं वरन स्वीकार करने के लिए आए हैं। हम ज्ञान के द्वारा शक्तिशाली तो बन सकते हैं, लेकिन पूर्णता हमें सहानुभूति और सहिष्णुता द्वारा ही प्राप्त होती है। उच्चतम शिक्षा वह है जो हमें केवल सूचनाएं या जानकारी नहीं देती, बल्कि हमें अस्तित्व में आई अन्य चीज़ों के साथ सामंजस्यपूर्ण ढंग से जीवन बिताना सिखाती है। लेकिन सहृदयता की यह शिक्षा न केवल स्कूलों में बड़े सुनियोजित ढंग से उपेक्षित कर दी जाती है बल्कि उसे अच्छे से दबा दिया जाता है। बिल्कुल बचपन से ही हमारी आदतें डाल दी जाती हैं और ज्ञान इस प्रकार दिया जाता है कि जीवन को प्रकृति से ज़बरदस्ती अलग कर दिया जाता है; और हमारा दिमाग जीवन के प्रारम्भ से ही दुनिया के विरोध में रहने का आदी हो जाता है।

इस तरह से वह सर्वोत्तम शिक्षा जिसे प्राप्त करने के लिए हम तैयार हुए थे, उपेक्षित रह जाती है और उसकी जगह सूचनाओं के भंडार को प्राप्त करने के लिए हमारी दुनिया हमसे छुड़ा दी जाती है। बच्चे को भूगोल पढ़ाने के लिए हम बलपूर्वक उसकी ज़मीन छीन लेते हैं, व्याकरण पढ़ाने के लिए उसकी भाषा छीन लेते हैं। वह मनुष्यों के संसार में पैदा

हुआ था लेकिन अज्ञानता के साथ पैदा होने के उसके पाप के परिष्कार के लिए हम उसे निर्वासित कर ग्रामोफोनों की दुनिया में ढकेल देते हैं। बाल-स्वभाव कष्ट सहने की पूरी ताकत के साथ ऐसी प्रताड़नाओं का विरोध करता है, लेकिन उसे दण्डित कर, दबाकर चुप कर दिया जाता है।

हम सब जानते हैं कि बच्चों को मिट्टी से बेहद प्यार होता है। उनका पूरा शरीर और दिमाग फूलों की तरह सूर्य के प्रकाश और हवा के लिए प्यासा रहता है। इस संसार में चारों ओर से प्रकृति द्वारा उनकी इन्द्रियों से सीधा सम्पर्क कर जो आमंत्रण मिलते रहते हैं, उन्हें वे कभी अस्वीकार नहीं करना चाहते। दुर्भाग्य से बच्चों के माता-पिता अपने-अपने व्यवसाय में, अपनी सामाजिक हैसियत के अनुरूप, अपने ही निराले नियम कायदों की दुनिया में रहते हैं; जिसके बारे में अधिकांशतः कुछ नहीं किया जा सकता क्योंकि लोग तो अपनी परिस्थितियों से प्रेरित होकर सामाजिक एकरूपता की ज़रूरत के अनुसार विशिष्टता प्राप्त करना चाहते हैं। परन्तु, हमारा बचपन ही वह समय है जब हमें अधिक स्वतंत्रता मिलती है या मिलनी चाहिए; स्वतंत्रता विशेष योग्यता प्राप्त कर परम्परागत सामाजिक-व्यावसायिक संकीर्ण सीमाओं में बंध जाने की आवश्यकता से।

मुझे एक सफल, अनुभवी और अनुशासन प्रिय हैडमास्टर के विस्मय और नाराज़गी की घटना खूब याद है जब उन्होंने हमारे स्कूल के ही एक लड़के को पेड़ पर चढ़ दो शाखाओं के बीच बैठने की जगह चुनकर पढ़ते देखा। मुझे स्पष्टीकरण में कहना पड़ा कि "बचपन का समय ही ऐसा समय है जब कोई सभ्य आदमी ड्राईंगरूम की कुर्सी और पेड़ की शाखाओं में से किसी एक को चुन सकता है। क्या मैं इस बच्चे को केवल इसलिए उस विशेषाधिकार से वंचित कर दूं, क्योंकि बड़ा हो जाने के कारण मुझे उससे वंचित होना पड़ा है।" यह जानकर आश्चर्य हुआ कि उन्हीं हैडमास्टर ने वनस्पति शास्त्र पढ़ने वाले छात्रों को इस प्रकार अध्ययन करने के लिए प्रोत्साहित किया। वह पेड़ के तटस्थ (निर्वैयक्तिक) ज्ञान में विश्वास रखते थे क्योंकि वह विज्ञान के अन्तर्गत आता है लेकिन एक निजी अनुभव के रूप में नहीं। अनुभवों का यह विकास ही वृत्तियों का निर्माण करता है जो प्रकृति द्वारा प्रदत्त शिक्षा के परिणाम के रुप में सामने आता है।

मेरे स्कूल के लड़कों ने सहज रूप से पेड़ के रूपाकृति-विज्ञान का पर्याप्त ज्ञान प्राप्त कर लिया है। ज़रा से स्पर्श से ही वे जान जाते हैं कि दुस्तर चिकने पेड़ पर पैर टिकाने की जगह कहां मिलेगी। उन्हें पता है कि पेड़ की शाखाओं से किस सीमा तक स्वतंत्रता ली जा सकती है, वे यह भी जानते हैं कि पेड़ पर चढ़ते समय अपने शरीर के भार का विभाजन कैसे करें कि शाखाओं पर उनका भार कम-से-कम पड़े। मेरे लड़के पेड़ों का सर्वोत्तम उपयोग करना जानते हैं - फल एकत्र करने से लेकर आराम करने और अनचाहे पीछे पड़ने वालों से छुपने तक के लिए। मेरा अपना पालन-पोषण शहर के एक सुसंस्कृत घर में हुआ, और जहां तक मेरे अपने आचरण की बात है, मुझे जीवन भर ऐसे आचार-व्यवहार में रखा गया

जैसे मैं ऐसी दुनिया में पैदा हुआ होऊं, जहां कोई पेड़ होता ही नहीं। इसलिए मैं इसे अपने लड़कों की शिक्षा का एक हिस्सा मानता हूं कि वे पूरी तरह इस बात का अनुभव करें कि वे भी अस्तित्व की योजना का एक अंश हैं, और पेड़ इसके महत्वपूर्ण तत्व हैं - न केवल क्लोरोफिल बनाने और हवा से कार्बन लेने के साधन के रूप में, वरन् जीवित वृक्षों की तरह भी।

प्राकृतिक रूप से हमारे पैरों के तलवे इस प्रकार के बने हैं कि हमारे पृथ्वी पर खड़े होने और चलने के लिए वे सर्वोत्तम साधन बन जाते हैं। जब से हमने जूते पहनना शुरू किया हमने अपने नंगे पैरों के प्रयोजन को बहुत कम कर दिया है। हमारे लिए तो भगवान से शिकायत करने के लिए यही दुख काफी है कि उसने हमें सुन्दर संवेदनशील तलवों के स्थान पर खुर क्यों नहीं दिए। मैं मनुष्यों के लिए जूतों के उपयोग का विरोधी नहीं हूं, लेकिन मुझे ज़ोर देकर यह कहने में भी संकोच नहीं है कि बच्चों के तलवों को उस शिक्षा से वंचित नहीं रखा जाना चाहिए जो प्रकृति उन्हें निःशुल्क देती है। हमारे शरीर के जितने भी अवयव हैं, उनमें से केवल तलवे ही अपने स्पर्श द्वारा पृथ्वी को सबसे अच्छी तरह और सबसे करीब से जानने में सक्षम हैं। पृथ्वी के अपने बड़े सूक्ष्म नियम और रूपाकृतियां हैं जिनका वह सच्चे चाहने वालों अर्थात पैरों (तलवे) को ही चुम्बन करने देती है।

मैं पुनः स्वीकार करता हूं कि मैं एक सम्मानीय परिवार में पैदा हुआ और बचपन से ही मेरे पैरों की सावधानीपूर्वक रक्षा की गई ताकि वे सीधे-सीधे मिट्टी के सम्पर्क में न आ सकें। जब मैं नंगे पैर चलने में अपने लड़कों की बराबरी करने की कोशिश करता हूं तो प्रायः मैं कांटों भरे रास्ते का चुनाव कर लेता हूं और कुछ ऐसे ढंग से चलता हूं कि कांटों को ही विजय की खुशी मिलती है। मेरे पैरों को कम-से-कम प्रतिरोध वाले रास्ते का अनुसरण करते हुए चलने का सहज ज्ञान नहीं है। भूमि की सतह चाहे कितनी भी सपाट क्यों न हो, उसमें भी कहीं कुछ उभार, तो कहीं छोटे-छोटे गड्ढे तो होते ही हैं जिन्हें केवल शिक्षित और अनुभवी पैर ही समझ सकते हैं। मुझे प्रायः ही सीधे सपाट खेतों के बीच में से टेढ़ी-मेढ़ी पगडंडियों को निकलते देखकर आश्चर्य होता है। स्थिति और भी उलझनपूर्ण तब हो जाती है जब आपको पता चलता है कि यह पगडंडी किसी एक व्यक्ति की चपलता का परिणाम नहीं है। जब तक बहुत सारे लोग उसी सनक (जुनून) के साथ टेढ़े-मेढ़े रास्ते पर न चलें तब तक पगडंडी बन ही नहीं सकती। इसका वास्तविक कारण पृथ्वी के उन अतिसूक्ष्म संकेतों में है जिनकी ओर पैर बरबस ही खिंचे चले जाते हैं। जो लोग इस प्रकार की बातों से दूर नहीं कर दिए गए हैं वे ज़रा से संकेत पर अपने पैरों की मांसपेशियों को बड़ी तेज़ी से सन्तुलित कर लेते हैं। इस तरह से वे नंगे पैर चलते हुए भी बिना कठिनाई अनुभव किए अपने पैरों को कंकड़ों व कांटों की चुभन से बचा लेते हैं। मैं जानता हूं कि भौतिक संसार में जूते भी पहने जाएंगे, पक्की सड़कें भी बनाई जाएंगी, कारों का भी उपयोग होगा, परन्तु शिक्षा प्राप्त करने के दौरान क्या बच्चों को यह नहीं बताया

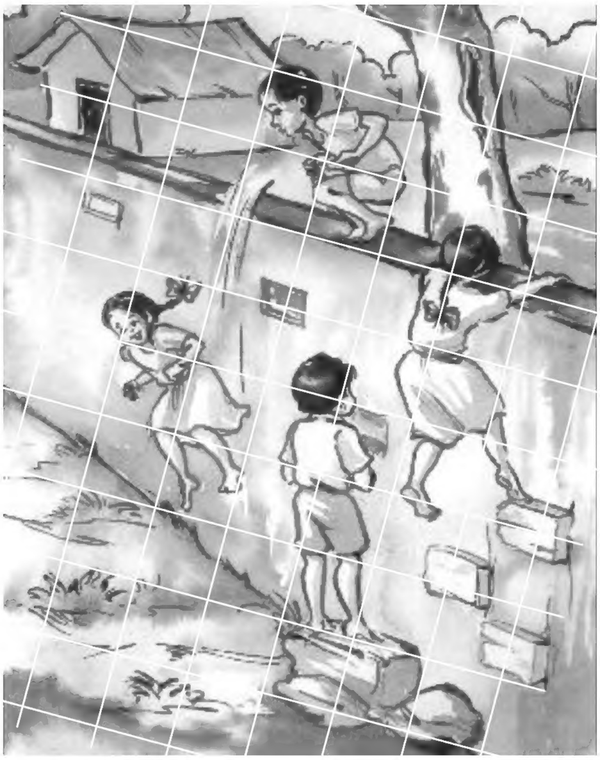


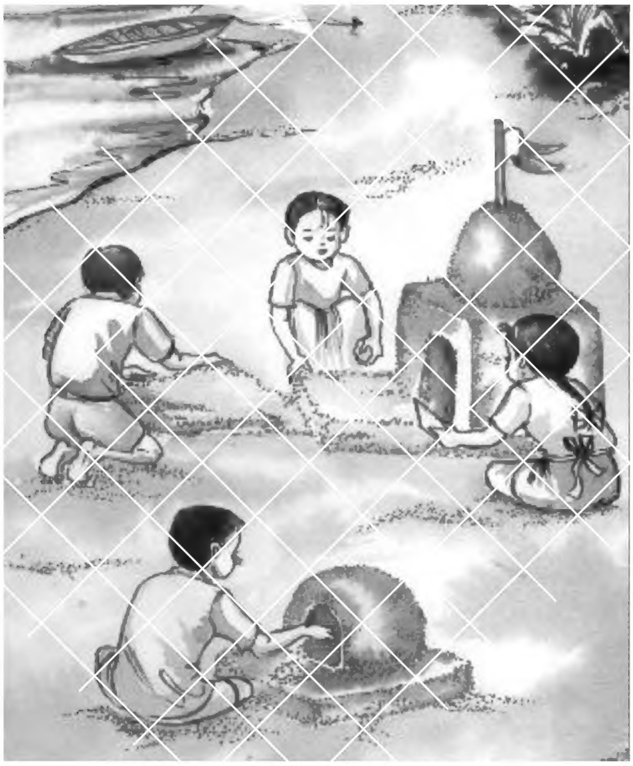
जाना चाहिए कि दुनिया सजे हुए बैठकखानों तक ही सीमित नहीं है, प्रकृति नाम की भी कोई चीज़ है जिसके सम्पर्क में आने के लिए उनके शारीरिक अंगों को बड़ी सुंदरता के साथ गढ़ा गया है।

ऐसे भी लोग हैं जो यह सोचते हैं कि अपने विद्यालय में सादा जीवन व्यतीत करने का परिचय देकर मैं बालकों को गरीबी के आदर्शवाद का उपदेश दे रहा हूं जैसा कि मध्यकालीन युग में प्रचलित था। शिक्षा के दृष्टिकोण से क्या हमें यह स्वीकार नहीं कर लेना चाहिए कि गरीबी ही वह विद्यालय है जहां मनुष्य ने अपना पहला सबक सीखा है और सर्वोत्तम प्रशिक्षण पाया है। गरीबी हमें पूरी तरह जीवन व संसार के सम्पर्क में लाती है क्योंकि धनी लोगों की तरह जीवन व्यतीत करना औरों के अनुभव से जीने जैसा है, जिसका सीधा-सीधा अर्थ हुआ जीवन को पूरी वास्तविकता से न जी पाना। यह बात किसी ऐश्वर्यपूर्ण जीवन जीने वाले और अभिमान को पोषित करने वाले व्यक्ति के लिए अच्छी हो सकती है परन्तु शिक्षा के लिए नहीं। धन बच्चों के लिए सोने का पिंजरा है। इसलिए मैंने अपने विद्यालय में भौतिक सामान और लकड़ी के फर्नीचर की कमी करके, जिसे

रईस और शौकीन लोग हेय समझते हैं, प्राकृतिक वातावरण रखा है - इसलिए नहीं कि यह गरीबी है वरन् इसलिए कि इससे बच्चों को दुनिया का व्यक्तिगत आत्मीय अनुभव होता है।

मेरे स्कूल के दिनों में जिस बात ने विशेष रूप से मुझे बहुत अधिक उत्पीड़ित किया वह यह थी कि स्कूल में संसार की पूर्णता नहीं थी, वह तो एक विशेष व्यवस्था थी जो पाठों के अध्ययन के लिए की गई थी। यह व्यवस्था वयस्कों के लिए उपयुक्त हो सकती थी जो ऐसे स्थानों की विशेष आवश्यकता के प्रति जागरुक थे और जीवन की धारा से अलग रह कर भी इस प्रकार के शिक्षण को स्वीकार करने के लिए तत्पर थे, लेकिन बच्चों को तो जीवन से प्यार होता है - और यह उनका पहला प्यार है। संसार के सारे रंग और इसमें होने वाली क्रियाएं उनकी उत्सुकता को आकर्षित करती हैं। उनके इस प्रेम का गला घोंटकर क्या हम वास्तव में बुद्धिमानी कर रहे हैं? बच्चे कोई जन्मजात बैरागी नहीं हैं जो एकदम से ज्ञानप्राप्ति के लिए संन्यासियों जैसे अनुशासन में रहने लगें।



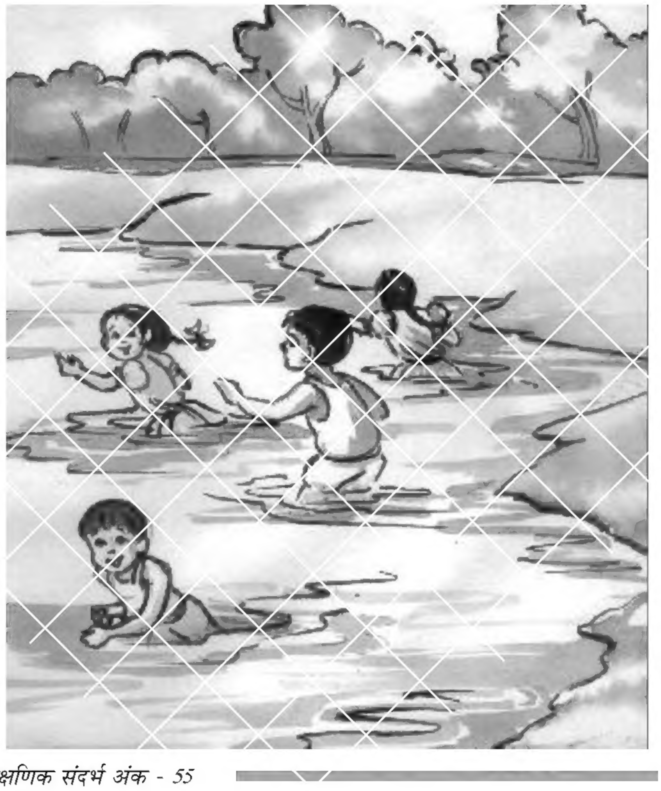


उन्हें चाहिए कि पहले वे जीवन जीते हुए ज्ञान प्राप्त करें, फिर ज्ञान प्राप्ति के लिए जीवन से वैराग्य लें और बाद में पुनः परिपक्व ज्ञान प्राप्त कर पूर्ण जीवन की ओर लौटें।

लेकिन, समाज ने मनुष्यों को विशेष रूपों में ढालने के लिए कुछ अलग प्रकार के जोड़-तोड़ की व्यवस्था की है। इस व्यवस्था का ताना-बाना कुछ इस प्रकार बुना गया है कि उसमें कहीं से भी प्रकृति को अंदर आने देने के लिए जगह बचती ही नहीं है। कोई व्यक्ति अपनी आत्मा को जीवित रखने के लिए भी यदि इस व्यवस्था या इसके किसी भाग से मुक्त होने का दुस्साहस करता है तो उसे एक के बाद एक, अंत तक दंडित करने का सिलसिला बना हुआ है। इसलिए सच्चाई का अनुभव एक बात है और उसे ऐसी जगह व्यवहार में लाना जहां प्रचलित व्यवस्था का सारा प्रवाह ही आपकी विचारधारा के विपरीत हो, दूसरी बात। इसलिए जब मेरे सामने मेरे अपने बेटे की शिक्षा की समस्या आई तो मैं समझ ही नहीं पा रहा था कि इसका व्यावहारिक समाधान क्या होगा। सबसे

पहला काम जो मैंने किया, वह यह था कि उसे शहर के वातावरण से दूर गांव के वातावरण में ले गया और उसे यथासंभव प्रकृति के साथ सहज सम्पर्क में आने की स्वतंत्रता दी। वहां नदी थी जो अपने खतरे के लिए जानी जाती थी, वहां वह तैरा और बड़ों की चिंताओं ओर वर्जनाओं से मुक्त होकर उसने नाव भी चलाई। वह खेतों में समय बिताता था, अनगढ़ी पगडंडियों से रेतीले किनारों पर जाता था, खाने के लिए अक्सर देरी से आता था, परन्तु कोई उससे इस बारे में प्रश्न नहीं करता था। उसके पास आराम और ऐश्वर्य के ऐसे कोई साधन नहीं थे जो परम्परागत रीति-रिवाज़ों के अनुसार उसके जैसे परिवेश में रहने वाले लड़के के लिए आवश्यक ही नहीं, उचित भी माने जाते थे। इन अभावों के लिए न केवल लड़के को दया की दृष्टि से देखा जाता था वरन् उसके माता-पिता के ऊपर भी लोगों द्वारा दोषारोपण में कोई कमी नहीं की जाती थी, ऐसे लोगों द्वारा जिनके लिए समाज ने पूरी दुनिया पर ही पर्दा डाल दिया है।

लेकिन मेरा पूरा विश्वास था कि आराम



और विलासिता की चीज़ें लड़कों को भारस्वरूप लगती हैं। यह बोझिलता होती है दूसरों की आदतों की, विलासिता भरे अभिमान और ऐश्वर्य का प्रतिनिधि होने की, जिसका आनन्द माता-पिता अपने बच्चों के माध्यम से लेते हैं।

फिर भी, सीमित साधनों में रहने वाला मैं, अपने बच्चे को अपनी योजना के अनुसार शिक्षा देने की दिशा में बहुत कम कर पाया। उसे कहीं भी आने-जाने की स्वतंत्रता थी। उसके और प्रकृति के बीच व्यवधान डालने वाले धन और सामान के पर्दे बहुत कम थे। इस तरह मेरी अपेक्षा उसे संसार का वास्तविक अनुभव प्राप्त करने के बेहतर अवसर मिले, जो मुझे कभी प्राप्त नहीं हुए। लेकिन मेरे दिमाग में अन्य सब बातों से अधिक चिंता एक और महत्वपूर्ण बात की थी।

शिक्षा का उद्देश्य मनुष्य को 'सत्य की एकता' (unity of truth) से परिचित कराना है। पहले समय में जब जीवन सादा था, मनुष्य के व्यक्तित्व के सब पहलुओं के बीच परस्पर पूरा सामंजस्य था, लेकिन जब से बुद्धि को आध्यात्म व भौतिकता से अलग कर दिया गया, स्कूली शिक्षा ने सारा ज़ोर मनुष्य की बुद्धि और भौतिक पक्ष पर डाल दिया। हमारा सारा ध्यान बच्चों को सूचनाएं देने पर होता है, बिना इस बात पर ध्यान दिए कि इस प्रकार ज़ोर देकर हम उनके बौद्धिक, भौतिक और आध्यात्मिक जीवन में विघटन को बढ़ावा दे रहे हैं।

मैं आध्यात्मिक संसार में विश्वास करता हूं, जो हमारी इस दुनिया से कहीं अलग नहीं है, बल्कि इस दुनिया का ही आन्तरिक सत्य है। अनन्त ईश्वरीय रहस्यों से भरे हुए इस विशाल संसार में पैदा होकर हम यह नहीं मान सकते कि हमारा जीवन मात्र एक क्षणिक संयोग था और हम यूं ही पदार्थों के वेगभरे धारा-प्रवाह में अन्तहीन, अनिर्दिष्ट दिशा की ओर बढ़ते जा रहे हैं। हम अपने जीवन को उस स्वप्नदर्शी का ऐसा स्वप्न नहीं मान सकते जिसके जीवन में कभी जागना है ही नहीं। हमारा एक व्यक्तित्व है जिसके लिए पदार्थों और शक्ति का तब तक कोई अर्थ नहीं है जब तक उनका संबंध उस असीम ईश्वरीय सत्ता से न हो जाए जिसकी प्रकृति (स्वभाव) को कुछ मात्रा में हमने मानवीय प्रेम, महान विभूतियों की श्रेष्ठता, वीरों के बलिदान और प्रकृति के अवर्णनीय सौन्दर्य में देखा है, उसे केवल भौतिक सत्य मात्र कहकर व्यक्त नहीं किया जा सकता वरन् वह तो व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति का ही एक रूप है। बचपन से लगातार उपेक्षा करते रहने के कारण हम आध्यात्मिक संसार की वास्तविकता का अनुभव नहीं कर पाते। बच्चों को पूरी तरह इस संसार में रहकर उस वास्तविकता का अनुभव होना चाहिए, मात्र कुछ धर्म संबंधी शिक्षाओं द्वारा इसकी पूर्ति नहीं की जा सकती। लेकिन इसे किया किस प्रकार जाए? वर्तमान युग में इस समस्या का समाधान पाना कठिन है क्योंकि लोगों ने अपने समस्त समय को इस तरह व्यस्त रखने की व्यवस्था कर ली है कि उन्हें इतना खाली समय मिलता ही नहीं कि वे जान पाएं कि उनकी क्रियाओं में केवल कुछ-न-कुछ करते रहने की गति मात्र भर है, परन्तु सत्य बहुत कम है और उनकी आत्मा अपने संसार से बहुत दूर है।

भारत में आज भी हमारी स्मृतियों में वे परम्पराएं जीवित हैं जब महान शिक्षक वनों में निवास करते थे। शब्द के आधुनिक अर्थ में ये स्थान न तो विद्यालय थे, न ही मठ या विहार। इनमें वे घर सम्मिलित थे जहां परिवार के साथ वे लोग रहते थे जिनका लक्ष्य ईश्वर में संसार को देखना और उस ईश्वर में अपने जीवन का अनुभव करना था। यद्यपि वे समाज के बाहर रहते थे, लेकिन समाज के लिए उनका वही महत्व था जो विभिन्न ग्रहों के लिए सूर्य का है - जिस केन्द्र से वे जीवन और प्रकाश ग्रहण करते हैं। यहां छात्र बहुत निकट से जीवन के ध्रुव सत्य को देखते-समझते थे और उसके बाद ही गृहस्थ के रूप में समाज में प्रवेश करते थे।

इस तरह से प्राचीन भारत में विद्यालय वहीं था जहां जीवन का स्रोत था। छात्रों का पालन-पोषण न तो मात्र पढ़ने-सीखने और शैक्षिक वातावरण के बीच विद्वता प्राप्त करते बीतता था, न ही अपूर्णता के साथ अलग-थलग मठों के बीच में, वे तो जीवित आकांक्षाओं के वातावरण के बीच रहते थे। वे पशुओं को चराने ले जाते थे, लकड़ियां बीनते थे, फल इकट्ठा करते थे, सब प्राणियों के प्रति अपने हृदय में दया की अनुभूति करते थे और अपनी भावनाओं को अपने शिक्षक की भावनाओं से मिलाकर अपना आध्यात्मिक विकास करते थे। ऐसा इसलिए सम्भव था क्योंकि इन स्थानों का मुख्य उद्देश्य पढ़ाना नहीं वरन् ऐसे लोगों को संबल देना था जो ईश्वर के सापेक्ष अपना जीवन जीते थे।

गुरु और शिष्यों का ये परम्परागत पारस्परिक संबंध किसी प्रेम-कथा का अंश नहीं है क्योंकि हमारी देशज शिक्षा व्यवस्था में आज भी उसके अवशेष यह सिद्ध करते हैं। ये विश्वविद्यालय जो संस्कृत में 'चालुसपथियां' कहलाते थे, इनमें वर्तमान की 'स्कूल' कही जाने वाली संस्थाओं की गंध नहीं है। छात्र अपने गुरु के घर में परिवार के बच्चों की तरह रहते थे जहां उन्हें रहने, खाने और शिक्षा ग्रहण करने के लिए किसी प्रकार का शुल्क नहीं देना पड़ता था। शिक्षक सादगी का जीवन व्यतीत करते हुए अपना स्वाध्याय जारी रखते थे और साथ ही छात्रों की भी व्यवसाय से परे, जीवन की सहज प्रक्रिया के रूप में सहायता करते थे। इस तरह अपने गुरु के साथ जीवन की ऊंची महत्वांकाक्षाओं की साझेदारी करने के आदर्श ने मेरे विचारों को पूर्ण रूप से प्रभावित किया। दूसरे देशों के वे लोग जो असीमित सांसारिक इच्छाओं को पूरा करने के पक्षधर हैं, वे शिक्षा का उद्देश्य उन वस्तुओं की प्राप्ति मान सकते हैं। परन्तु हमारे लिए अपने आत्म सम्मान और अपने सृष्टिकर्ता के सम्मान के प्रति आभार मानने के लिए शिक्षा का उद्देश्य मानव जीवन के सर्वोच्च उद्देश्य से कम नहीं हो सकता - अर्थात सम्पूर्णतम विकास और आत्मा की स्वतंत्रता। यदि अल्प दौलत के लिए छीना-झपटी करनी पड़े, तो यह बड़ी दयनीय बात है। हमें उस जीवन को प्राप्त करना है जो मृत्यु के परे भी अस्तित्व में रहता है और सब परिस्थितियों में उच्चता प्राप्त करता है। हमें अपने ईश्वर को प्राप्त करना चाहिए। हमें उस परम सत्य के लिए जीना चाहिए जो हमें सब सांसारिक बंधनों से मुक्त करता है और हमें पदार्थों और शक्ति की नहीं वरन् आंतरिक प्रकाश एवं प्रेम की दौलत देता है। इस प्रकार की

आत्मा की स्वतंत्रता हमने अपने देश के उन लोगों में भी देखी है जिनका जीवन बिना किताबी शिक्षा के अत्यंत गरीबी में बीता। भारत में आत्मीय ज्ञान का यह खज़ाना हमें विरासत में मिला है। हमारी शिक्षा का उद्‌देश्य इस ज्ञान को जानकर अपने जीवन में वह शक्ति प्राप्त करना होना चाहिए जिसका हम अपने जीवन में सही उपयोग कर सकें और समय आने पर उसे अपने अवदान के रूप में संसार को उसके स्थाई हित के लिए दे सकें।

जिस समय विद्यालय बनाने के विचार ने बड़ी गहरी वेदना के साथ मेरे मस्तिष्क (विचारों) को उद्वेलित किया, उस समय मैं पूरी तरह साहित्यिक गतिविधियों में लिप्त था। मुझे अचानक ऐसा लगा जैसे मैं किसी भयानक स्वप्न में घुटन महसूस करके कराह रहा हूं। यह घुटन केवल मेरी आत्मा की नहीं थी वरन् मेरे देश की आत्मा की भी थी जो लगता था मानो मेरे माध्यम से सांस लेने के लिए छटपटा रही हो। मुझे स्पष्ट आभास हुआ कि इस समय किसी भौतिक पदार्थ की आवश्यकता नहीं है - न धन की, न आराम की, न शक्ति की, वरन् ज़रूरत है तो हमारी आत्मा की मुक्ति के प्रति चेतना के पूरी तरह जागृत होने की, जीवन की स्वतंत्रता को ईश्वर में देखने की, जहां हमारी उनसे कोई शत्रुता नहीं जो लड़ना चाहते हैं, उनसे कोई स्पर्धा नहीं जो पैसा पैदा करना चाहते हैं, हमें वहां पहुंचना है जहां हम इन सब आक्षेपों व अपमान से ऊपर उठ चुके हों।

अंत में मैं अपने श्रोताओं को सावधान करना चाहूंगा कि वे यहां से इस आश्रम की कोई गलत या अतिरंजित छवि लेकर न जाएं। जब विचारों को कागज़ों पर अभिव्यक्त किया जाता है तो वे पूर्ण और बड़े सरल मालूम होते हैं और लगता है कि हम बड़ी आसानी से उन्हें पूरा कर लेंगे, लेकिन वास्तविकता यह है कि उसकी अभिव्यक्ति जिनके माध्यम से होनी है वे इंसान जीवित हैं, विभिन्न प्रकार के हैं, निरन्तर बदलते रहने वाले हैं जिस वजह से वह अभिव्यक्ति उतनी स्पष्ट और पूर्ण नहीं होती। मानव स्वभाव में भी बाधाएं हैं और बाह्य परिस्थितियों में भी। हम में से कुछ लोग लड़कों के दिमाग को जीवित अवयव (living organism) मानने में कम ही विश्वास रखते हैं तो कुछ स्वभावतः मानते हैं कि बलपूर्वक ही अच्छे काम कराए जा सकते हैं। दूसरी ओर लड़कों में भी अलग-अलग मात्रा में ग्रहणशीलता होती है और कई लड़के अपरिहार्य रूप से असफल भी होते हैं। कभी उनमें अचानक ही अपराध वृत्ति दिखाई पड़ने लगती है और हम स्वयं ही अपने विचारों के परिणामों के प्रति आशंकित होने लगते हैं। हम शंकाओं और प्रतिक्रियाओं के अंधेरे के बीच से गुज़रते हैं। लेकिन यह संघर्ष और विचलन वास्तविकता का ही एक पहलू है। जिन लोगों को अपने विचारों पर दृढ़ विश्वास है, उन्हें रास्ते में भटकाने वाली विसंगतियों और असफलताओं के बीच अपने विचारों की सत्यता का परीक्षण करना होगा।

जहां तक मेरा प्रश्न है, मैं जीवन के सिद्धांत में विश्वास करता हूं, तरीकों की अपेक्षा मनुष्य की आत्मा में विश्वास करता हूं। मेरा विश्वास है कि शिक्षा का उद्‌देश्य विचारों की स्वतंत्रता है, जिसे स्वतंत्रता

के मार्ग से ही पाया जा सकता है। हालांकि जीवन के समान ही स्वतंत्रता के खतरे भी हैं और ज़िम्मेदारियां भी। यद्यपि अधिकतर लोग यह भूल चुके हैं, परन्तु मैं इसे अच्छी तरह जानता हूं कि बच्चे जीवित प्राणी हैं, वे उन बड़े लोगों की अपेक्षा अधिक जीवंत हैं जिन्होंने अपने चारों ओर अपनी आदतों की खोल ओढ़ रखी है, इसलिए उनके मानसिक स्वास्थ्य और विकास के लिए यह नितांत आवश्यक है कि स्कूल केवल पाठ पढ़ने के लिए न हो वरन् एक संपूर्ण दुनिया के रूप में हो जो प्यार पर आधारित हो। यह एक ऐसा आश्रम होना चाहिए जहां लोग जीवन के उच्चतम उद्देश्य के लिए एकत्रित हों। शांत प्रकृति के बीच जीवन केवल चिंतन करने के लिए न हो, वरन् उसकी गतिविधियों में पूरी तरह जागृति हो, जहां दिमाग में लगातार ठोक-ठोककर यह न भरा जाए कि उनके लिए केवल राष्ट्र की मूर्तिपूजा को स्वीकार करना ही उच्चतम आदर्श है, जहां उन्हें यह अनुभव करने के लिए अभिप्रेरित किया जाए कि मनुष्यों की यह दुनिया ईश्वर का साम्राज्य है और इसकी नागरिकता की उन्हें आकांक्षा करनी चाहिए। यह दुनिया वह है जहां सूर्योदय, सूर्यास्त और तारों की नीरव शोभा को रोज़ उपेक्षा से नहीं देखा जाता, जहां मनुष्य प्रकृति के फूलों और फलों के उत्सवमय अस्तित्व का प्रसन्नतापूर्वक स्वागत करता है और जहां बच्चे और वयस्क, शिक्षक और छात्र एक ही मेज़ पर बैठकर अपने दैनिक भोजन के साथ-साथ अमरतापूर्ण जीवन के लिए भी भोजन ग्रहण करते हैं।

रवीन्द्रनाथ टैगोर द्वारा अमेरिका में दिए गए इस व्याख्यान को 1933 में मैकमिलन द्वारा प्रकाशित किया गया। मूल लेख www.vidyaonline.net पर उपलब्ध है।

अंग्रेज़ी से अनुवादः ऊषा चौधरी। पिछले पैंतीस वर्षों से विभिन्न शिक्षण संस्थाओं से संबद्ध व शिक्षा के नए आयामों के प्रति सजग। भोपाल में रहती हैं।